

## भारतीय चिंतन परंपरा में ज्ञान, विद्या और कौशल (I)

प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी से हुमा अंसारी की बातचीत

भारतीय चिंतन परंपरा में शिक्षा से जुड़ी कौन-कौनसी अवधारणाएं रही हैं और वे समय के साथ क्या रूप लेती गई हैं? हमारी प्राचीन परंपरा में शिक्षा का नियोजन किस प्रकार किया जाता था? यह जिज्ञासा का एक बड़ा विषय रहा है। साथ ही यह भी कि प्रचलित पश्चिमी अवधारणाओं से वे कहां तक अलग हैं। इस क्षेत्र में सुस्पष्ट सामग्री का अभाव भी सुविदित है। भारतीय दर्शन और संस्कृत साहित्य के विद्वान प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी के साथ यह बातचीत इस कमी को पूरा करने की तरफ एक कदम है। यह बातचीत की पहली किस्त है।

**प्रश्न :** हमारे शास्त्रों और भारतीय दर्शन परंपरा में शिक्षक से जुड़ी अनेक अवधारणाओं का समावेश है लेकिन यह प्रचलित शिक्षा दर्शन का हिस्सा नहीं बन पाई हैं। आज के साक्षात्कार में हम कुछ ऐसी ही अवधारणाओं पर चर्चा करेंगे।

पहला सवाल सीखने और सिखाने की प्रक्रिया के संबंध में है। हम आपसे जानना चाहेंगे कि शिक्षण की प्रक्रिया को यदि हम ऐतिहासिक रूप में देखने की कोशिश करें तो औपचारिक रूप से सीखने और सिखाने की प्रक्रिया के प्रमाण किस रूप में मिलते हैं और आगे इसका क्रमिक विकास किस तरह से हुआ?

**उत्तर :** यह आपने ठीक कहा कि हमारी चिंतन की जो परंपराएं हैं या शिक्षा की जो भारतीय परंपराएं कभी रही होंगी उनमें कुछ सिद्धांत या अवधारणाएं थीं, उनका जैसा समावेश वर्तमान शिक्षा

दर्शन में होना चाहिए था वैसा नहीं हुआ है। एक सवाल यह है कि औपचारिक रूप से सीखने और सिखाने की प्रक्रिया कब शुरू हुई? मुझे लगता है कि हमारे यहां औपचारिक या अनौपचारिक शिक्षा का बहुत स्पष्ट विभाजन नहीं किया जाता रहा है। इस तरह का स्पष्ट विभाजन नहीं दिखता जैसा आज समझा जाता है। इस तरह का विभाजन चूक नहीं है इसलिए कहना कठिन हो जाता है कि औपचारिक रूप से सीखने-सिखाने की प्रक्रिया कब शुरू हुई। हम कह सकते हैं कि मनुष्य जब से धरती पर आया, तब से ही सीखना शुरू किया और सिखाना भी शुरू किया। यदि उसे विधिवत सिखाए जाने का स्वरूप मिला तो हमारे यहां यह माना गया है कि सबसे पहले मां ही सिखाती है। एक मत यह है कि हमारे यहां सबसे बड़ी गुरु भी मां को ही कहा गया है। ऐसा मनु ने कहा है। माता जैसे ही संतान को जन्म देती है, सिखाने की प्रक्रिया आरंभ हो जाती है। इसे कहां औपचारिक स्वरूप मिलता है, हमारी परंपरा में यह कह पाना कठिन है।

कालान्तर में जब कुछ नियम और व्यवस्थाएं बनाई जाने लगीं, जिन्हें हम धर्मशास्त्र कहते हैं, तो संस्कारों का विचार आया। संस्कारों की कल्पना की गई। संस्कार अपने-आपमें एक पूरी शिक्षण प्रणाली को भी समाहित करते हैं। उसे हम औपचारिक शिक्षण प्रणाली कहते हैं। चारों वेदों से जुड़ा हुआ जो साहित्य है,

प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी

भारत में संस्कृत के लब्ध प्रतिष्ठित विद्वान। संस्कृत में योगदान के लिए राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय स्तर के अनेक पुरस्कारों से सम्मानित। संप्रति राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, दिल्ली के उप-कुलपति हैं।

हुमा अंसारी

टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ सोशल साइंसेज, मुंबई से एम.ए. करने के बाद केन्द्रीय शिक्षा संस्थान, दिल्ली विश्वविद्यालय में शोध छात्रा हैं।

उनसे जो चिंतन निकता है, उसमें संस्कार की अवधारणा है। संस्कार की अवधारणा औपचारिक रूप से सिखाने की प्रक्रिया से कहीं न कहीं जुड़ी हुई है। उसमें कम से कम एक संस्कार ऐसा है जिसे हम शिक्षा में प्रवेश का संस्कार कह सकते हैं और वह उपनयन संस्कार है। यह गुरुकुल में प्रवेश के पूर्व किया जाने वाला संस्कार है। आज की शिक्षा पद्धति और उससे जुड़ी जितनी अवधारणाएं हैं, वे प्राचीन शिक्षा पद्धति से अलग हैं। फर्क यह है कि वहां संस्कारों की बात पहले की गई है और शिक्षा उसके बाद आती है। उसका आधार या प्रयोजन संस्कार है।

संस्कार का लक्ष्य मनुष्य को संस्कारित करना, उसके व्यक्तित्व को संस्कारित करना है। इसे एक तरह से जीवन निर्माण भी कह सकते हैं। उसकी प्रक्रिया जन्म के पहले ही आरंभ हो जाती है। विचार यह था कि मां के गर्भ में आने से पहले ही उसकी व्यवस्थाएं आरंभ कर दी जाएं। इसलिए उसमें गर्भाधान संस्कार भी है। पैदा होने के बाद किए जाने वाले संस्कार हैं, थोड़ा बड़ा होने पर उपनयन संस्कार है। उपनयन संस्कार एक तरह से शिक्षा में प्रवेश है। हालांकि उपनयन की पूरी विधि में एक कर्मकांड जुड़ा हुआ है। यह औपचारिक शिक्षा उन संस्कारों से जुड़ी हुई है और यह विचार वैदिक बोध या वैदिक दर्शन है और वैदिक वाङ्मय के साथ आता है। यह काफी पुराना है। जब धर्मशास्त्र लिखे जाने लगे तो उसमें संस्कारों का विचार आने लगा। ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो ईसा से कुछ शताब्दियों पहले हमने यह व्यवस्थाएं कीं और उसमें एक नियोजन भी है। पूरे जीवन चक्र को 16 संस्कारों के एक विधिवत चक्र के रूप में देखकर क्रमशः मनुष्य के जीवन का, व्यक्तित्व का उत्तरोत्तर विकास उसमें देखा गया है।

इसके बाद शिक्षा में हम क्या-क्या व्यवस्थाएं करेंगे, क्या-क्या सिखाया जाएगा, इस पर विचार होता है। हमारे यहां प्राचीनकाल से वेद चले आ रहे थे, मंत्रों का साहित्य था, यह सब कहीं न कहीं पूरा का पूरा वाचिक परंपरा से जुड़ा हुआ है। इसीलिए इसे श्रुति भी कहते हैं क्योंकि यह कहने और सुनने से जुड़ा हुआ है। अभी हम यह बात कर रहे हैं कि जो आज का नजरिया है और हम जिस परंपरा की बात कर रहे हैं यह उससे कहां अलग होती है। आज शिक्षा में जिस तरह लिखने-पढ़ने की बात करते हैं वहां लिखने-पढ़ने का प्रश्न नहीं है। वहां कहना और सुनना है, श्रुति है। कुछ ज्ञान जो अपने अनुभव से, सम्मेलन से आता है उसको कहना। वह एक मंत्र भी हो सकता है और मंत्रात्मक वाङ्मय भी हो सकता है जिसे सुरक्षित रखने और याद रखने के लिए अपने शिष्यों को बताया जाता है। यह वेद हैं। जब इस पर विचार हुआ कि अध्ययन के विषय क्या-क्या होंगे, तो माना गया कि एक तो वेद हैं और फिर वेदों को समझने लिए सभी जरूरी चीजें होंगी। मनुष्य ने अपने अनुभव से, अंतर्ज्ञान से जो कुछ हासिल किया है, वह वाङ्मय या मंत्र के रूप में आ गया है। उसे समझने के लिए कुछ विषय होने चाहिए, विचार होने चाहिए; उन्हें वेदांग कहा गया। इस प्रकार 6 वेदांग बने- शिक्षा, तंत्र, निरुक्त ज्योतिष, छंद और व्याकरण।

शिक्षा को उच्चारण की शिक्षा माना गया। जिसे आजकल भाषा विज्ञान में फोनेटिक्स और फोनोलोजी या स्वर विज्ञान कहते हैं। इस प्रकार हमारी परंपरा में मुख्य रूप से शिक्षा का शाब्दिक आशय भाषा को बोलना, सही उपयोग करना, सही उच्चारण करना माना गया। हमारे पुराने साहित्य में 'एजुकेशन' के लिए शिक्षा शब्द पूर्णतः नहीं मिलता। शिक्षा का एक अर्थ सिखाना भी होता है तो भाषा को सिखाना उसका एक अर्थ लिया गया है, क्योंकि मां भी भाषा सिखाती है। 6 वेदांगों, वेदों को समझने के लिए जो 6 विषय माने गए, उसमें सबसे पहला यही है कि कैसे सही बोलेंगे और इसे ही शिक्षा कहा गया।

कल्प यह बताता है कि कर्मकांड कैसे किए जाएंगे। धर्म का आचरण और व्यवहार कैसे किया जाएगा, यह सब कल्प है। यह दूसरा विषय है। तीसरा निरुक्त है जिसे 'एटीमॉलॉजी' कहते हैं कि शब्द कैसे बने, हम उनका इस्तेमाल किस तरह से कर रहे हैं, पहले किस अर्थ में उनका प्रयोग हुआ है, उसके पीछे मूल क्रिया क्या है, धातु क्या है, प्रत्यय क्या है आदि। इन सबके बारे में निरुक्त में विचार होता है। फिर ज्योतिष है, जिसमें गणित भी है और समय का विचार है। फिर छंद है, जिसमें कविता की कृति, लय, यति और उससे छंद कैसे बनते हैं, यह बताया जाता है। अन्तिम है व्याकरण, जिसमें भाषा की शुद्धि का विचार और शुद्ध भाषा बोलने के नियम होते हैं। शिक्षा, तंत्र, निरुक्त, ज्योतिष,

छंद और व्याकरण। यह 6 वेदांग हैं। इनको एक तरह हमारी पाठ्यचर्या में समाहित किया गया। हमने संस्कारों के द्वारा जैसे ही एक औपचारिक प्रणाली विकसित की तो हम उसमें क्या पढ़ाएंगे यानी जो ज्ञान की धरोहर है, उसको समझने के लिए इन 6 विषयों को पढ़ाए जाने का विचार किया गया और उनके पढ़ाने की व्यवस्था की गई। इस प्रकार चार वेद, 6 वेदांग और उसके साथ न्याय, मीमांसा, इतिहास, पुराण जोड़ देते हैं तो कुल 14 विद्याएं मानी गई थीं। ऐसा उल्लेख मिलता है कि आरंभ में तीन विद्याएं थीं- आन्विकिकी, प्रयोग और वार्ता।

आन्विकिकी को एक तरह से लॉजिक या तर्कशास्त्र कह सकते हैं। यह जीवन का तर्क है। सही तर्क के अनुसार जीवन बिताना आन्विकिकी है। तृतीय तीन वेद हैं। वार्ता कहते हैं कृषि और पशुपालन को। ये तीन विद्याएं आरंभ में रही हैं। उसके बाद उसमें चौथी दण्ड नीति या गवर्नेंस जोड़ी गई। सामंती समाज में कुछ प्रशासन के सिद्धांत होने चाहिए इसलिए उसमें यह चौथा विषय दण्ड नीति जोड़ा गया।

यह चार विद्याएं बहुत पहले थीं। इनमें फिर 6 वेदांग और 4 विषय जोड़कर कुल 14 विद्याएं प्राचीन काल में आईं। इस तरह हमने संस्कार का विचार पृष्ठभूमि में रखते हुए शिक्षा प्रणाली की व्यवस्था की। उसके बाद इनकी संख्या बढ़ती गई। आगे चलकर 32 विद्याओं पर शुक्रनीति में विचार हुआ है।

**प्रश्न :** यह सारी चर्चा आप ईसा से कुछ शताब्दी पहले की कर रहे हैं?

**उत्तर :** ईसा से काफी पहले कह सकते हैं, मोटे तौर पर कुछ शताब्दी पहले। मेरे ख्याल में दो या तीन हजार साल पहले। क्योंकि कुछ विद्वान ऋग्वेद का समय ईसा से कम से कम पांच-छह हजार साल पहले मानते हैं। हालांकि पश्चिमी विद्वान इन्हें इतना पुराना नहीं मानते हैं। लेकिन हमारे पास प्रमाण हैं, इसलिए हम इतना पुराना मानते हैं। उस समय हमारे पास एक संस्कृति है, हमारे पास विचार हैं, संस्कार का विचार है और यह विचार है कि उस संस्कार से शिक्षा जुड़ी होनी चाहिए। उन संस्कारों के अनुसार हम अपनी शिक्षा प्रणाली को किस प्रकार नियोजित करते हैं यह विचार आता है। इस प्रकार से हमारी एक औपचारिक शिक्षा प्रणाली आरंभ हो सकती है।

**प्रश्न :** संस्कार के बारे में थोड़ा और बताएंगे?

**उत्तर :** हां, असल में हमारी परंपरा में जो पूरा विश्वबोध या वल्ड व्यू है वह कहीं न कहीं संस्कार से जुड़ा हुआ है। बाद में उसे एक विधिवत, प्रक्रियागत स्वरूप दिया गया। बीज रूप में दुनिया को जिस तरह हम देखते हैं उसमें कहीं न कहीं संस्कार का तत्व हमारी दृष्टि में रहता है। हम कह सकते हैं कि पश्चिम में अगर दो दुनिया हैं। एक सामी परंपरा है और दूसरी गैर-सामी परंपरा। एक एशिया का संसार या भारत और उससे जुड़े हुए देशों का संसार है और उसके अलावा एक यूरोप का संसार है। वहां के विश्वबोध में दुनिया की शुरुआत मोटे तौर पर पाप से होती है। मन में कहीं न कहीं से पाप का विचार आता है तो वहां से संसार की शुरुआत होती है। आदम को मना किया गया था कि वह बुद्धि या ज्ञान का फल नहीं चखे। शैतान उसको ललचाता है और वह उस फल को तोड़ता है तो फिर शर्म आती है, पाप का बोध आता है और उनको स्वर्ग से निर्वासित होना पड़ता है। उनके विश्वबोध के मूल में कहीं न कहीं पाप के बोध से सृष्टि आरंभ होती है। हमारे यहां सृष्टि का आरंभ सौंदर्य, आनन्द, उल्लास, सृजन और अपने-आपको व्यक्त करके अनन्त बनाने की कामना से होती है। यह दोनों विश्वबोध में फर्क है। वेदों के ऋषि कहते हैं कि यह दुनिया ईश्वर की रची हुई कविता है। मंत्र में कहा गया है कि यह संसार देव का काव्य है। शुचिता, आनन्द और सृजन के उल्लास से ईश्वर ने सृष्टि को रचा है, ऐसा हमारा विश्वबोध है। अब चूंकि ईश्वर ने मनुष्य को अपने आनन्द से अपने-आपको विस्तार देने की कामना से रचा है, जैसा कि वे कहते हैं कि यदि मैं एक हूं तो अपने-आपको विस्तारित करता हूं। आरंभ में एक परमपुरुष हुआ या जो भी था उसके मन में विचार आया। उसने अपने-आपको अनेक बनाया या अपना विस्तार किया। क्योंकि एक रहता है तो वह आनन्द उसके भीतर सीमित रहता है और जब वह अपने-आपको बड़ा बनाता है तो आनन्द भी अनन्त होता है। यह सब वेदों, उपनिषदों में कहा गया है। यह विश्व

ईश्वर की रची हुई कविता है और वह अपने-आपको अनन्त बनाने की कामना से इसे रचता है, एक को बहुत बनाने की कामना से रचता है। अब मनुष्य क्या करे कि ईश्वर की रची कविता को फिर से ईश्वर तक पहुंचने लायक बनाया जाए। इसी वजह से जितनी भी कलाएं, विद्याएं या निर्मिति मनुष्य करता है वे सब उस संस्कार की प्रक्रिया से जुड़कर रची जाती हैं और उनके द्वारा वह अपने-आपको संस्कारित करता है। यह बात वैदिक संहिताओं के बाद लिखे गए एत्रेय ब्राह्मण ग्रंथ में कही गई है। एत्रेय की रचना ईसा से करीब तीन हजार साल पहले हुई है। वहां संस्कार का विचार कहीं न कहीं आता है। मनुष्य जो कुछ भी करता है, रचता है, बनाता है- कविता के रूप में, कला के रूप में या किसी को सिखाता है तो वह ईश्वर की तरह होने के लिए करता है। क्योंकि ईश्वर ने जिस तरह से संसार को सौंदर्य और शुचिता की भावना के साथ बनाया है, उसी भाव से जुड़कर वह अपने-आपको व्यक्त करता है। चाहे वह सिखाने के रूप में करता हो, चाहे वह किसी रचना के रूप में करता हो, कोई खिलौना बनाता हो या कोई चीज निर्माण करता हो तो उस सबके द्वारा अपने-आपको वह संस्कारित करता है। संस्कार शब्द का प्रयोग भी एत्रेय ने वहां किया है। इन सब प्रक्रियाओं के द्वारा जो भी मनुष्य है वह अपने-आपको संस्कारित करते हैं। अतः सारा जीवन ही यज्ञ है और उसको संपादित करते चले जाने में मनुष्य अपने-आपको संस्कारित करता है।

संस्कार का विचार हमारे विश्वबोध और जीवन दर्शन में कहीं न कहीं अंतर्निहित रहा है। जब हमने शिक्षा की व्यवस्थाएं बनाईं तो वह संस्कार का विचार भी आया। यह बीज रूप में बहुत पुराना है और ऋषियों के दर्शन और दुनिया को जिस रूप में वे देखते थे, वहां से कहीं न कहीं उनके विश्वबोध में, उनकी समझ में, उनकी सोच में और इसके बाद हमारी शिक्षा प्रणाली में वह एक तरह से अनुस्यूत रहा। हमारी पारंपरिक शिक्षा प्रणाली में यह माना गया कि संस्कारों से जुड़कर हम शिक्षा प्रणाली का नियोजन करेंगे। जब हमने औपचारिक व्यवस्थाएं भी कीं तो उसमें 16 संस्कार रखे। फिर उसका वर्गीकरण इस तरह से किया, जिस तरह से मनुष्य का विकास होता है।

हमारी प्राचीन परंपरा में मनुष्य के विकास, आरंभ, को तभी से मान लेते हैं जब से वह मां के गर्भ में आता है। तभी से उसके व्यक्तित्व का निर्माण हो जाना चाहिए, संस्कारों की शुरुआत भी वहीं से हो जानी चाहिए। वहां से लगाकर फिर विवाह भी एक संस्कार है। यही आज की दृष्टि में और जो उन लोगों की दृष्टि थी, उसमें अन्तर है। विवाह केवल स्त्री-पुरुष का संबंध मात्र नहीं है या केवल दो लोगों के बीच में प्रेम मात्र नहीं है। वह भी संस्कारित करने की प्रक्रिया का एक अंग है, क्योंकि उससे हम अपने व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं, अपने-आपको पूर्ण बनाते हैं। पूरी सृष्टिचक्र के अनुरूप मनुष्य के जीवन चक्र और उसके अनुसार संस्कारों के चक्र द्वारा हम अपने-आपको लगातार परिपूर्ण बनाते हैं। हमारी शिक्षा प्रणाली भी उससे जुड़कर अपने-आपको पूरा बनाने की, अपनी समग्रता को समझने की, अपने-आपको पूरा हासिल करने की प्रक्रिया का एक अंग बन जाती है। ऐसा हम कह सकते हैं।

**प्रश्न :** एक बड़ा ही जटिल प्रश्न ज्ञान की अवधारणा को लेकर आता है, जिससे आज भी हम जूझ रहे हैं। हम जानना चाहेंगे कि शास्त्रों में ज्ञान को किस प्रकार समझा गया है? आखिर ज्ञान क्या है?

**उत्तर :** एक तो यह प्रश्न है और इससे जुड़ा हुआ दूसरा प्रश्न है कि ज्ञान और विद्या एक-दूसरे से किस तरह अलग हैं? एक तो इसमें पारिभाषिक शब्दों की समस्या आती है कि आज हम उसका क्या अनुवाद कर रहे हैं, आज उस शब्द का किस रूप में इस्तेमाल कर रहे हैं और पहले उसका प्रयोग किस अर्थ में हुआ है? साथ ही यह शब्द किस संदर्भ में आए हैं? किस शास्त्र में किस-किस संदर्भ में आए हैं? मोटे तौर पर हमारे यहां ज्ञान को जिस तरह बताया गया है उसके आधार पर ज्ञान को हम विद्या से अलगा भी सकते हैं। मुक्ति के लिए, जितनी और जो समझ है, जो मनुष्य को मुक्ति की ओर ले जाती है, वह मनुष्य को उसकी मुक्ति की ओर ले जाने वाली समझ है जिसे हमारी परंपरा में ज्ञान कहा गया है, उसके अलावा जितनी जानकारियां, जितने हुनर और जितनी कलाएं हैं, उसको विद्या या शिल्प भी कहा गया है। एत्रेय महिदास में उसको शिल्प कहा गया है। उन्होंने तो कविता और जितनी कलाएं हैं, उन सबको शिल्प कहा है। उसे हमारे यहां विज्ञान भी कहा गया। इस मायने में 'साइंस' के अर्थ में वहां विज्ञान नहीं है। ज्ञान

और विज्ञान, विद्या और अविद्या, ज्ञान और कला शब्दों का उपयोग होता आया है। एक ऐसा बोध है जो हमें जितनी भी व्यवहारिकताएं हैं, रोजमर्रा की दुनिया है उनके अलावा जो कुछ समझ देता है, उनसे हमें थोड़ा ऊपर उठाता है। क्योंकि मनुष्य केवल पशुओं की तरह आहार आदि करके ही संतुष्ट नहीं रह सकता है। एक व्यवहार का संसार है, जिसमें कि हम भोजन करते हैं, शरीर के निर्वाह के लिए जितनी जरूरी चीजें हैं उनका उपयोग करते हैं, कपड़ा पहनते हैं, उससे जुड़ी हुई कलाएं हैं। भोजन बनाने की भी कला हो सकती है। फिर कृषि है, पशुपालन है और कपड़ा बुनने की कला है। हमारे व्यवहार से जुड़े हुए हुनर हैं, कलाएं हैं और इनसे कुछ विद्याएं बनती हैं। भले ही वह कविता या चित्रकला हो, यह सब हमारे व्यवहार के जगत से जुड़ी हुई चीजें हैं। इसके अलावा भी कुछ हो सकता है, जिसकी मनुष्य को चाह हो सकती है। इनके ऊपर क्या? इनके ऊपर ले जाने वाले जो बोध हैं, उनको हमारे यहां ज्ञान कहा गया है। दोनों के बीच मोटे तौर पर सीधा-सीधा अन्तर यह किया जा सकता है।

हम ऐसा कह सकते हैं कि मनुष्य की मुक्ति का उपाय जिससे बन सके, ऐसा बोध या ऐसी समझ ज्ञान है और उसके भौतिक निर्वाह के लिए जितनी भी जानकारियां, हुनर, कलाएं आदि होती हैं, वे सब विद्याएं हैं। एक तो हमारे यहां इन्हें बहुत ज्यादा सांचों में विभाजित करके नहीं देखा गया है और दूसरे, हम पूरे परिदृश्य को समग्रता में देखने का प्रयास करते रहे हैं इसलिए उसका विभाजन साफ-सुथरा नहीं किया गया है। ऐसे में एक-दूसरे की जो विभाजक रेखाएं हैं, वे टूट जाती हैं। यह भी कहा गया है कि दोनों एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। इसलिए आगे चलकर यह प्रश्न आता है कि उसे उन्होंने कहीं विद्या या अविद्या भी कहा है और ज्ञान-अज्ञान भी कहा है। वे यह भी कहते हैं कि एक के बगैर दूसरा संभव नहीं हो सकता है। केवल आप ज्ञान के द्वारा संतुष्ट हो जाएंगे यह संभव नहीं है। और जीवन का निर्वाह कराने वाली जितनी विद्याएं हैं, बौद्धिक संसाधनों से जुड़ी हुई जितनी कलाएं हैं, हुनर हैं उन्हीं में समग्रता हो जाएगी ऐसा भी संभव नहीं हो सकता। इसीलिए यह दोनों चाहिए और यह दोनों एक-दूसरे से जुड़ी हुई हैं। क्योंकि इससे गुजर के ही आप यहां पहुंच सकते हैं और अगर आप यहां हैं तो वे भी आपको चाहिए। एक-दूसरे में इनकी सीमा रेखाएं अनुप्रविष्ट होती हैं, एक-दूसरे को यह स्पर्श करते हैं। हमारे यहां यह भी माना गया है कि अगर विभाजन करना है तो हम यही कह सकते हैं कि मनुष्य को उसकी परिपूर्णता की ओर ले जाने वाले बोध का ख्याल रखना होगा। केवल एक मनुष्य की मुक्ति की ही बात नहीं है क्योंकि एक मनुष्य मुक्त होगा तो बाकी समाज से वह जुड़ा हुआ है। अतः बाकी समाज की मुक्ति का प्रश्न भी वहां उसके साथ आएगा। इसलिए रोजमर्रा की दुनिया के अलावा मनुष्य अपनी परिपूर्णता जिसमें हासिल करें, ऐसा बोध जिन-जिन चीजों से हो सकता है या जिस विमर्श से हो सकता है वह ज्ञान है। हम कह सकते हैं कि इसके अलावा जितने बोध हो सकते हैं, वे सब विद्याएं हैं और इसमें जितने हुनर हैं, शिल्प हैं, कलाएं हैं वे सब आ जाती हैं। हालांकि यह एक जटिल सवाल है क्योंकि इसी रूप में हम भेद करते हैं और कई बार इनको समानार्थक रूप में भी देखा गया है।

**प्रश्न :** ईशोपनिषद में जो संदर्भ आता है उसमें विद्या-अविद्या शब्दों का इस्तेमाल हुआ है। वह ज्ञान और अज्ञान की तरह ही नजर आता है। क्या यहां इनमें आपस में उससे कोई फर्क है?

**उत्तर :** हां, यहां पर वह ज्ञान और अज्ञान के अर्थ में है। असल में वहां अज्ञान अंग्रेजी के शब्द इग्नोरेंस के अर्थ में नहीं माना गया है। इग्नोरेंस का अर्थ सामान्यतया नासमझी या समझ का अभाव या मूर्खता लिया जाता है लेकिन इस अर्थ में वहां अज्ञान नहीं है। उस अर्थ में अविद्या वहां नहीं है। आजकल हम अंग्रेजी में और व्यवहार में नॉलेज कहते हैं, वहां ज्ञान या विद्या का अर्थ यह नहीं है। नॉलेज कमीशन या इकोनॉमी ऑफ नॉलेज में नॉलेज कह रहे हैं, उस अर्थ में उसमें नहीं है। ईशोपनिषद में एक तरह से वह पारिभाषिक शब्द हैं। जिस दर्शन को वे यहां बताना चाह रहे हैं, उसमें विद्या और अविद्या उसी अर्थ में हैं, जिस अर्थ में हमने ज्ञान कहा। ज्ञान के समानान्तर अन्य जो कुछ भी बोध हो सकते हैं, विद्याएं हो सकती हैं, उनका अंग्रेजी में अलग-अलग तरह से अनुवाद किया जाता रहा है और समस्या भी आती है। अन्य भाषा में सही शब्द उनके लिए खोज पाना थोड़ा कठिन होता है। यदि उस संदर्भ को

समझते हुए हम अनुवाद को पढ़ेंगे तो उसके साथ अन्याय नहीं करेंगे। वहां उस अर्थ में उसे नॉलेज कह सकते हैं, लेकिन वहां विद्या वही है जो अमृतत्व की ओर ले जाती है। विद्या वह है जो संसार के पार, मृत्यु के पार हमें ले जाती है। अमृतत्व से आशय वहां वह नहीं है, जिसे लोक व्यवहार में हम अमर होना कहते हैं कि हम कभी मरेंगे नहीं। यह आशय वहां नहीं है। वह बोध देना जो कि जीवन के लिए, समाज के लिए चिरस्थायी मूल्य रखता है और जो सदैव मूल्यवान रहेगा, उस चीज का बोध होना अमृतत्व का बोध है। अतः अमृतत्व की ओर ले जाने वाले बोध को वहां उन्होंने विद्या कहा है। और बाकी संसार के, रोजमर्रा के जीवन से जुड़े जितने अन्य बोध हो सकते हैं उनको उन्होंने अविद्या कहा है।

ईशोपनिषद में वे कहते हैं कि दोनों का परिणाम, प्रयोजन और फल अलग है लेकिन जो केवल विद्या में रमा रह जाता है वह भी अंधेरे में डूबता है और जो केवल अविद्या में रमा रह जाता है वह भी अंधेरे में खो जाता है या किसी एक में होने से उसका पूरा जीवन मुक्कमल नहीं होता। क्योंकि इससे गुजरकर ही वहां पहुंचना होता है। इसलिए रोजमर्रा से जुड़ी हुई जो कला हैं, ज्ञान है, शिल्प हैं, उनका भी जीवन में समावेश होना चाहिए। इनके अलावा जो हमें ऐसी चीज से जोड़ सके जो कि चिरस्थायी महत्त्व की होगी, जिसका बोध हमें ऐसा तत्व देता है, उनकी शब्दावली में कहें तो, जो ईश्वर का या आत्मा का बोध देता है। आज की शब्दावली में कहें तो हमारे मनुष्य होने का बोध, एक परिपूर्ण मनुष्य होने का बोध हमें देता है, उसे ईशोपनिषद में ज्ञान या विद्या कहा है। बाकी इसके अनुवाद की समस्याएं तो हैं। कहीं नॉलेज और इग्नोरेंस कहते हैं और कहीं नॉलेज और नॉट-नॉलेज कहते हैं।

अंग्रेजी में अनुवाद करने की दृष्टि से ज्ञान के लिए नॉलेज कहा गया वह ठीक है और अविद्या और अज्ञान फिर पर्याय हो जाते हैं। वेदांत में फिर से अज्ञान और अविद्या प्रायः पर्याय के रूप में आते हैं। वेदांत की पूरी परंपरा में अज्ञान और माया आता है, माया भी उसको कहा गया है। जितना संसार है, व्यवहारिक प्रपंच है, रोजमर्रा का हमारा दैनिक संसार है कि हम उठते हैं, खाते हैं, सोते हैं, पीते हैं एवं दैनिक कृत्य करते हैं; इसे व्यवहार भी कहा गया है। इसे उन्होंने व्यवहारिक सत्ता कहा है, यह व्यवहारिक सत्य है। यह हमारे जीवन की सच्चाई है, लेकिन सच्चाई का यह एक स्तर मात्र है। इसके परे भी मनुष्य की कुछ आकांक्षाएं हो सकती हैं, अपने-आपको पहचानने और इसके अलावा अपनी पहचान खोजने की इच्छा हो सकती है और यह विद्या का संसार है।

**प्रश्न :** श्री अरविन्द इग्नोरेंस कहते हैं तो क्या यह उस अर्थ में नहीं कह रहे हैं जिसमें हम आज के दौर में समझते हैं?

**उत्तर :** आज की अंग्रेजी या बातचीत में जिसे हम इग्नोरेंस कहते हैं यह उस अर्थ में नहीं है। वह तकनीकी शब्द है। यह एक सापेक्ष इग्नोरेंस होगी। अर्थात् जो परम सत्य है, उसका बोध नहीं है। वहां पर इग्नोरेंस इतनी बड़ी चीज है कि उसमें सारी दुनिया का ज्ञान भी है, फिर भी उसे इग्नोरेंस कहा जाएगा। लोक व्यवहार, 64 कलाएं आना- माला बनाना, तरह-तरह के शिल्प, हुनर, क्राफ्ट, लकड़ी का काम और सब काम-धंधे का ज्ञान होने के बाद भी इसको इग्नोरेंस ही कहते हैं।

**प्रश्न :** कई बार विद्या को कौशल से जुड़ी हुई चीज की तरह भी देखा जाता है, जैसे धनुर्विद्या। इसे आप कैसे देखते हैं?

**उत्तर :** यह ईशोपनिषद के संदर्भ से अलग हो जाता है। वहां पर ईशोपनिषद में विद्या और अविद्या कहा गया है। दूसरे शास्त्रों में ज्ञान और विद्या है। वहां मोक्ष का उपाय बनने वाला जो बोध है, वह ज्ञान है और बाकी जितने हुनर हैं उनको भी विद्या कह दिया है। ईशोपनिषद के अलावा कुछ शास्त्रों में जहां विद्या कहा जा रहा है वहां विद्या का अर्थ अलग हो जाता है। वहां जो चार वेद हैं, हरेक वेद का एक-एक उपवेद है। अर्थशास्त्र या अर्थवेद है, आयुर्वेद है, धनुर्वेद है और गान्धर्व वेद है। यह चार उपवेद हो गए। चार वेदों के साथ चार उपवेदों को भी हमारी शिक्षा

प्रणाली में शामिल किया गया। चार वेदों को समझने के लिए छह वेदांग हो गए। शिक्षा, कल्प, निरूक्त, ज्योतिष, छंद और व्याकरण। फिर इन चारों उपवेदों से जितनी कलाएं बनती हैं, गान्धर्व वेद अगर कहें तो उसमें जितने परफॉर्मिंग आर्ट्स- संगीत, नृत्य, नाटक और सारी कलाएं इसमें आ जाती हैं। धनुर्वेद में जितने मार्शल आर्ट हैं, वे आ जाते हैं। उसमें केवल धनुष-बाण की ही कला नहीं है। जैसा कि हमने कहा कि शुक्रनीति में 32 कलाएं हो जाती हैं। उसमें अश्व विद्या, हस्ति विद्या, यहां तक की शेर शास्त्र भी है और बाज को पालने का शास्त्र भी है। इस तरह के बहुत सारे शास्त्र विकसित किए गए। इस पर पूरी एक किताब ही है। क्योंकि राजा तो इनका बहुत उपयोग करते थे। इन सबको भी उन्होंने विद्या ही कहा। वहां विद्या शब्द का फिर पारिभाषिक अर्थ अलग हो जाता है। सभी कौशल, हुनर हैं और आजकल शिक्षा के जो विषय हैं, उनकी दृष्टि से उनको विद्या कह सकते हैं। फिर विद्याओं की संख्या भी उस दृष्टि से बढ़ती जाती है।

**प्रश्न :** हमारे यहां सरस्वती को ज्ञान की देवी कहा जाता है या फिर विद्या की?

**उत्तर :** विद्या की देवी ही कही जाती हैं। क्योंकि वे संगीत की भी देवी हैं और विद्या में भी जितनी तरह की विद्याएं हैं- कविता है, कला है, साहित्य है, इन सबको भी हमारे यहां लोक के धरातल के ही विषय माना गया है या हम इनको लौकिक विद्या के अन्तर्गत ही मान सकते हैं। इसलिए सरस्वती विद्या की देवी हैं, ज्ञान की देवी उनको नहीं कहा जाता है। ज्ञान के लिए तो कोई देवी या देवता नहीं है। क्योंकि मनुष्य ज्ञान को अपने भीतर खोजता है और अपने भीतर ही उसे पाता है। उस अर्थ में उसका कोई देवता नहीं है। अलग-अलग विचारक और आचार्यों को उससे जोड़कर देखा जाता रहा है। बृहस्पति को वेदों में ज्ञान का आचार्य कहा गया है। याज्ञवल्क्य ज्ञान पर विचार करने वाले विचारक हैं। जितनी कलाएं हैं उनके तो देवता हैं। नटराज शिव भी संगीत, नाटक और सब कलाओं के देवता हैं। व्याकरण के भी देवता हैं, भाषा के भी देवता हैं। इसलिए सरस्वती को विद्या की देवी कहा गया है। वहां जितनी भी कलाएं या विषय हैं, उन सबके अर्थ में विद्या कहा गया है। और उसमें भाषा से जितने जुड़े हुए विषय हैं वे तो आ ही जाते हैं। भाषा से हम जो रचनाएं करते हैं, उनके विषय आ जाते हैं। व्याकरण भी उसमें आ जाता है और बाकी संगीत, नाटक आदि सब उसमें आ ही जाता है। इसलिए इन सबकी देवी वे हैं। उस अर्थ में यह सारी विद्याएं ही मानी जाएंगी, जो चार वेद हैं, वेदांग हैं, उपवेद हैं, शुक्रनीति में जो 32 विद्याएं हैं, ये सब विद्याएं मानी जाएंगी और इन सबकी प्रतिष्ठा की देवी सरस्वती हैं। ♦